
इकाई 11 भारतीय साहित्य की अवधारणा और अनुवाद

इकाई की रूपरेखा

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 भारतीय साहित्य की अवधारणा
 - 11.2.1 भारतीय साहित्य का आशय
 - 11.2.2 भारतीय साहित्य की निर्मिति
 - 11.2.3 भारतीय साहित्य और अनुवाद
- 11.3 सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन और भारतीय साहित्य
 - 11.3.1 भारत के सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलनों का स्वरूप
 - 11.3.2 सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन और साहित्य
 - 11.3.3 आंदोलन, साहित्य और अनुवाद का भारतीय संदर्भ : अंतःसंबंध की पड़ताल
- 11.4 साहित्य, इतिहास और अनुवाद
- 11.5 स्वतंत्रता आंदोलन, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण और अनुवाद
- 11.6 स्वतंत्र भारत के साहित्यिक आंदोलन और अनुवाद
- 11.7 सारांश
- 11.8 अभ्यास के लिए प्रश्न
- 11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय साहित्य की अवधारणा से परिचित होंगे;
- सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों के साहित्य पर पढ़ने वाले प्रभावों से परिचित होंगे;
- भारतीय साहित्य की अवधारणा के निर्माण में अनुवाद की भूमिका को बेहतर ढंग से समझ सकेंगे; और
- समकालीन साहित्यिक विमर्शों के विकास में अनुवादों के महत्व का आकलन कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

अनुवाद मात्र एक तकनीकी कार्य नहीं है। वह मनुष्य की समग्र सांस्कृतिक गतिविधि का हिस्सा है। एक बहुभाषिक, बहुसांस्कृतिक देश होने के नाते भारत में अनुवाद की भूमिका कुछ ज्यादा ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही अनुवाद के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया जाना इसी बात का सबूत है। भारतीय साहित्य के निर्माण में अनुवाद विधा के योगदान को समझना कई कारणों से जरूरी लगता है। दो भिन्न भाषिक समुदायों के परस्पर निकट आने की प्रक्रिया कई रूपों में प्रतिफलित होती है। अनुवाद इनमें से एक है। अगर एक दूसरे के

नजदीक आने की जरूरत महसूस करते समुदाय मोटे तौर पर एक ही सांस्कृतिक ताने-बाने के हिस्से हैं तो उनमें अनुवाद ज्यादा सुगमता से सम्पन्न होता है। यह सुगमता भाषान्तरण तथा लिप्यन्तरण के रूप में देखी जा सकती है। ये दोनों अनुवाद के अपेक्षाकृत आसान रूप हैं। भारत में रहने वाले ज्यादातर भाषिक समुदाय स्थूलतः एक ही सांस्कृतिक ताने-बाने के भीतर आते हैं उनमें अक्सर भाषान्तरण तथा लिप्यन्तरण से अनुवाद का काम चला लिया जाता है। भारतीय साहित्य की निर्मिति का विवेचन करते समय इस पहलू पर ध्यान जाना चाहिए। वैश्वीकरण के दबाव में जब राष्ट्रवाद की वैचारिक चौहदियां दरक रही है जो उन काम्य-कोमल तन्तुओं की रक्षा के रूप में देखते-पहचानते पहचाने जाते हैं। भारतीय साहित्य का प्रश्न इसी संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण बन जाता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र की जिस अवधारणा ने 'भारतीय साहित्य' पदबंध की रचना की, अनुवाद कार्य द्वारा जिसका पोषण-परिवर्द्धन किया गया उससे राष्ट्रीय भावना को मजबूती मिली। परस्पर पूरक ये ('भारतीय राष्ट्र', 'भारतीय साहित्य') संकल्पनाएं राष्ट्रीय अस्मिता पर विचार करते समय केन्द्र में सहज ही आ जाती हैं।

11.2 भारतीय साहित्य की अवधारणा

साहित्य शास्त्रियों के बीच एक मान्यता यह है कि साहित्य तो मनुष्य मात्र के लिए होता है, उसमें भारतीय अभाषीय जैसा भेद क्यों किया जाए। यह मान्यता यद्यपि समर्थनीय है परन्तु मनुष्य ने अपने वैचारिक विकास-क्रम में जिन अर्जित अनुभवों के आधार पर साहित्य और संस्कृति की कोटियां बनायी हैं वे भी उपेक्षणीय नहीं है। अब सवाल भारतीय साहित्य की अवधारणा को समझने का है साथ ही, इस अवधारणा के निर्माण में अनुवाद की भूमिका को परखने का भी है।

11.2.1 भारतीय साहित्य का आशय

भारतीय भाषाओं का साहित्य अपनी विभिन्नता और वैशिष्ट्य के बावजूद कुछ मूलभूत प्रवृत्तियों में समान दिखता है। यह समानता ही भारतीय साहित्य का आधार है। भारतीय साहित्य का आशय स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने कुछ प्रवृत्तियों की चर्चा की है। प्रायः सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं की शुरुआत में नाथ साहित्य रचा गया है। नाथ पंथी शिव को अपना आद्यगुरु मानते हैं। इस सम्प्रदाय का संगठन और दिशा-निर्धारक चिंतन क्योंकि गोरखनाथ का रहा है इसलिए उनके नाम पर सम्प्रदाय को नाथ पंथ कहा गया। मराठी और बांग्ला में नाथ सम्प्रदाय की धारा प्रबल रही है। पंजाब और राजस्थान में श्रीनाथ पंथी साधुओं का गायन सुना गया। दक्षिण में कर्नाटक के बसव के नेतृत्व में चले वीरशैव आंदोलन ने वचन साहित्य को जन्म दिया। तमिल में शैव कवियों-नायनारों की समृद्ध परम्परा रही।

भारतीय भाषा साहित्य की पहली प्रारंभिक प्रवृत्ति अगर नाथ साहित्य है तो दूसरी प्रवृत्ति है चारण काव्य। चारण काव्य अर्थात् राजप्रशस्तियां प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में मिलती हैं। संस्कृत में यह प्रवृत्ति पुरानी है लेकिन तमिल में भी प्रशस्तियां संगमकाल से प्राप्त होनी शुरू हो जाती हैं। संगम काल का समय ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से दूसरी शताब्दी ई.पू. तक है। इस युग का प्रख्यात महाकाव्य 'सिलप्पदिकारम' को चारण काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। यद्यपि उक्त महाकाव्य के रचयिता इलंगो अडिहल ने न्याय के समक्ष राजा और प्रजा का भेद स्वीकार नहीं किया। इस महाकाव्य में मदुरै का राजा एक निर्दोष व्यक्ति को सजा देने के कारण मृत्यु का शिकार होता है। यह कथा-वैचित्र्य प्रस्तुत महाकाव्य को विशिष्ट बनाता है। मराठी का पवाड़ा साहित्य और हिंदी गुजराती का रासो साहित्य चारण काव्य के अन्तर्गत आते हैं। हिंदी के आदिकाल को जार्ज ग्रियर्सन तथा रामकुमार वर्मा ने चारण युग नाम ही दे दिया है।

भारतीय साहित्य की तीसरी प्रवृत्ति संत काव्यधारा के रूप में बही। दक्षिण में तमिल के संत कवियों की सरल बानियाँ रहस्य का पुट लिए हुए हैं। तेलुगु के कबीर वेमन कहे जाते हैं। कन्नड़ के संत कवियों में सर्वज्ञ बहुत समादृत हैं। मराठी की संत परम्परा महानुभाव और वारकरी पंथों के रूप में मिलती है। नामदेव और चोखाभेला मराठी के चर्चित संत हैं। गुजराती के संत कवियों में अखो, सहजानंद, प्रीतमदास के नाम प्रमुखता से लिए जाते

हैं। बंगाल का बाउल पंथ संत काव्यधारा का ही विस्तार है। पंजाबी में संत काव्य की बहुत समृद्ध परम्परा है। नानक देव को इस परम्परा का पुरस्कर्ता माना जाता है। हिंदी में कबीर, दादू, रविदास और पलटूदास अग्रणी संतकवि हैं।

चौथी प्रवृत्ति प्रेमाख्यानकाव्य की है। तमाम भारतीय भाषाओं के प्रेमाख्यानकों के कथावस्तु में कई स्तरों पर आश्चर्यजनक सम्पन्नता देखी जा सकती है। सूफी साहित्य इसी धारा में परिणित किया जाता है। पाँचवी प्रवृत्ति के रूप में वैष्णव काव्य की चर्चा की जाती है। भागवत धर्म से निकला वैष्णव काव्य मणिपुरी साहित्य से लेकर मलयालम साहित्य में रचा गया है। वैष्णव काव्य के उभय नायक राम और कृष्ण भारत के सांस्कृतिक जीवन के नायक भी हैं। रामभक्ति काव्य निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में मिलता है। सबसे पुराने वैष्णव कवियों में तमिल के आलवार भक्त हैं। ब्रजभाषा, बांग्ला, गुजराती और उड़िया भाषाओं में कृष्ण काव्यधारा प्रमुखता से बही है। कृष्णलीला और रामलीला से जुड़े दृष्यकाव्य-नाट्य साहित्य और रंगमंच की व्याप्ति भी अखिल भारतीय रही है। मध्यकाल से लेकर यह परम्परा तमाम भारतीय भाषाओं में अभी भी प्रवहमान है।

प्रमुख भारतीय भाषाओं में आधुनिकता का आगमन लगभग साथ ही साथ होता है। आधुनिकता-बोध का भारतीय रूप स्वातंत्र्य-चेतना से जुड़कर आया है। 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम ने सभी भाषाओं के रचना-पटल पर गहरा असर डाला। डॉ. नगेन्द्र आधुनिक भारतीय साहित्य के चार पड़ावों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं 1. पुनर्जागरण, 2. राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना का उत्कर्ष (जागरण सुधार), 3. रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष तथा 4. साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय। (विस्तार के लिए देखिए 'भारतीय साहित्य' की भूमिका 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता), भारतीय भाषाओं में लिखा जा रहा साहित्य अगर भारतीय साहित्य के अन्तर्गत आता है तो उसके ठोस कारण हैं। इन कारणों को रेखांकित करके ही भारतीय साहित्य का आशय समझा जा सकता है। ये कारण हैं :

- क) तमाम भारतीय प्रांतों का साझा अतीत। यह साझापन टकराहटों, संधियों, संघर्षों, समझौतों से निर्मित है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उतार चढ़ाव से भरी राजनीतिक गतिविधियां अन्ततः संस्कृति और साहित्य पर असर डालती रही हैं। साहित्य का विकास राजनीतिक घटनाक्रम से अप्रभावित नहीं रह सकता है।
- ख) सामाजिक संरचनाओं में एक सीमा तक अभिन्नता। समान सामाजिक पदानुक्रम अधिकांश हिस्सों में मौजूद है। जनता की चित्तवृत्ति के निर्माण में इसकी केन्द्रीय भूमिका रही है। साहित्य लेखन इस चित्तवृत्ति की जमीन पर ही हुआ।
- ग) समान साहित्यिक और शास्त्रीय स्रोत। अधिकांश भारतीय भाषाओं के साहित्य का उपजीव्य एक है और वे समान काव्यशास्त्रीय मानदण्डों से सम्बद्ध होते हैं। इन उपजीव्य काव्यों और शास्त्रों का 'अनुवाद' सभी प्रमुख भाषाओं में होता रहा है।
- घ) समान साहित्यिक आंदोलनों से जुड़ाव। साहित्यिक-सांस्कृतिक आंदोलनों के अखिल भारतीय स्वरूप का सबसे अच्छा उदाहरण मध्यकालीन भक्ति आंदोलन है।

11.2.2 भारतीय साहित्य की निर्मिति

जिस महादेश में थार जैसा रेगिस्तान हो, हिमाच्छादित प्रान्त हों, चेरपूँजी जैसा वर्षा क्षेत्र हो और समुद्र की गोद में बसे हुए इलाके हों वहाँ की जीवन-शैली समरूप नहीं हो सकती। रहन-सहन में इतनी भिन्नता शायद ही कहीं और देखने को मिले। लेकिन, यह भी सच है कि जीवन-मूल्यों में जैसी समानता इस भिन्नता के आवरण के भीतर मौजूद है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जीवन के लगभग एक से आदर्श, संस्कारों में समानता, स्थिति-विशेष में अभिन्न प्रतिक्रिया इस देश के समस्त भूभाग को आपस में जोड़ती है। आपको एक-सी बोध-कथाएं सब जगह सुनने को मिलेंगी। लोक-गीतों, संस्कार गीतों में समान भावनाएं प्रवाहित दिखेंगी। दृष्टान्तों की अन्तर्वस्तु प्रायः एक-ही आदर्श को स्वीकारती प्रतीत होगी। पंचतंत्र, जातक, रामायण और महाभारत की कथाएं इस देश की मिट्टी-पानी

में घुली हुई हैं। ज्ञानानुशासनों के, शास्त्रीय मानदण्डों के स्रोत भी लगभग समान हैं। पाणिनी की अष्टाध्यायी, वात्स्यायन का कामसूत्र, धर्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र और धनुर्वेद के ग्रंथ सबके लिए संदर्भ रूप रहे हैं। साहित्यशास्त्र के आचार्य कुछ बुनियादी बातों पर सहमत दिखायी पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम व्याकरण को ले सकते हैं। काव्यशास्त्र के प्राचीनतम आचार्यों में से एक भामह (पाँचवीं-छठी शताब्दी) पाणिनी व्याकरण को श्रद्धा की चीज बताते हैं - 'श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयं' (काव्यालंकार VI, 63)। वामन (नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) इसी मत का अनुकरण करते हैं। उनके लगभग समकालीन ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन का कहना है : 'व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्'। सभी विद्याओं का मूल व्याकरण है। काव्य के लिए व्याकरण की अपरिहार्यता निर्देशित करते हुए काव्यमीमांसाकार राजशेखर (दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) लिखते हैं : 'शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्'। शब्दों की सिद्धि करना व्याकरण का प्रयोजन है। इसी तरह से कुछ अन्य बुनियादी मसलों पर भारतीय साहित्याचार्यों में सहमति देखी-दूँदी जा सकती है। यह संदर्भगत सहमति भारतीय साहित्य की निर्मिति का एक आधार है। लेकिन, भारतीय साहित्य का प्रमुख आधार काव्यशास्त्रीय मानदण्डों पर दीर्घकालिक विमर्श है। केरल से लेकर कश्मीर तक की साहित्यिक कृतियों की समालोचना के प्रतिमानों का कभी कोई क्षेत्रीय रूप नहीं बना। यह अवश्य है कि काव्यशास्त्र के अधिकांश प्रारंभिक आचार्य कश्मीर प्रांत के थे पर उनके लिखे ग्रंथ भारत भर के काव्य रसिकों के बीच समादृत थे। संस्कृत को बेशक ज्यादा महत्व मिला हो, परन्तु भाषा के संबंध में ऊँच-नीच का भाव, उपेक्षा और बहिष्कार की प्रवृत्ति प्रायः नहीं रही है। वाङ्मय के भीतर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का परिगणन किया जाता रहा है। कुछ आचार्य (जैसे दण्डी) मिश्र भाषा को भी इन तीन भाषाओं के बाद जोड़ते हैं। काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में लक्षण-विवेचन-उदाहरण के प्रसंग में प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाएं उसी समादर के साथ उद्धृत की जाती रही है जिस तरह संस्कृत की। नाटकों में तो भाषिक वैविध्य के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध ही हैं। काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों-अलंकार रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य का प्रसार प्रांतीय न होकर अखिल भारतीय रहा है। इसी तरह वे किसी भाषा-विशेष के काव्य शास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप में सीमित नहीं रहे हैं। सहूलियत के लिए भले ही उन्हें संस्कृत का काव्यशास्त्र कह दिया जाता हो, परन्तु वे भारतीय वाङ्मय के काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय हैं। आज भी तमाम आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का इनसे गहन संबंध बना हुआ है। मराठी, बांग्ला, हिंदी, कन्नड़ जैसी भाषाओं का काव्यशास्त्र तथाकथित संस्कृत काव्यशास्त्र से कितना भिन्न है यह विचार का विषय है। भारतीय साहित्य की निर्मिति का यही आधार है। सघन संवाद के लम्बे इतिहास ने इसे निरंतर जीवंत रखा है, विस्तृत किया है और पुख्ता बनाया है।

11.2.3 भारतीय साहित्य और अनुवाद

इसमें संदेह नहीं कि भारत जैसे बहुभाषिक देश में अनुवाद की आवश्यकता बहुत पहले अनुभव की गयी होगी। अनुवाद की परम्परा भी यहाँ स्वाभाविक रूप से बहुत पुरानी होनी चाहिए। इसी के मुताबिक अनुवादों का वैविध्य और विस्तार भी अपेक्षाकृत अधिक होना चाहिए, लेकिन, यहाँ यह विचारणीय है कि अनुवाद विद्या पर मानक चिंतन और तदनुरूप ग्रंथ-प्रणयन लगभग अनुपस्थित है। इस मसले की ओर ध्यान दिलाते हुए इन्द्रनाथ चौधरी अपने एक निबंध में पूछते हैं कि नाट्य विद्या पर भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, व्याकरण पर पाणिनी का अष्टाध्यायी अथवा तोलकप्पियर का तोलकप्पियम जैसा मानक कार्य अनुवाद विज्ञान या कला पर क्यों उपलब्ध नहीं है? इस पर चिंतन की किसी प्राचीन परम्परा का साक्ष्य भी नहीं मिलता। ऐसा भी नहीं है कि अनुवाद किए न जाते रहे हों। इन्द्रनाथ चौधरी वात्स्यायन का संदर्भ देते हुए अनुवाद की ऐतिहासिक प्राचीनता रेखांकित करते हैं। (विस्तार के लिए देखिए 'Towards an Indian theory of Translation' इन्द्रनाथ चौधरी, इण्डियन लिटरेचर, अंक 259, सितम्बर-अक्टूबर 2010, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ. 113-123) अनुवाद-विद्या पर उपजीव्य ग्रंथ के अभाव का विवेचन मुश्किल लगता है फिर भी, कुछ सरल बिन्दु सुझाए जा सकते हैं :

क) प्राचीन भारतीय चिंतक अनुवाद को एक विद्या के रूप में मान्यता नहीं देते।

ख) भारतीय रचनाकार परिस्थिति वश बहुभाषी रहे हैं। अनुवाद उनके लिए अलग से प्रयत्न का विषय नहीं रहा है।

- ग) यहाँ की परम्परा में मौलिकता पर ज्यादा जोर दिया जाता रहा है। अनुवादकों को ज्यादा महत्व न मिलने की यही वजह है। प्राचीन आचार्य भामह के एक कथन से इसकी पुष्टि की जा सकती है : 'अन्य सारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः' - दूसरों के कथन का उपयोग करने वाला कवि कुछ मौलिक नहीं कह पाता, अनुवाद मात्र कर देता है। (काव्यालंकार VI 6)
- घ) संस्कृत में विवेचन ग्रंथ लिखने की परम्परा थी। पूर्व कथित सभी मानक ग्रंथ संस्कृत में हैं। प्राकृत-अपभ्रंश में मुख्यतः काव्य और कथा लेखन होता था। संस्कृत आचार्य क्योंकि प्राकृत-अपभ्रंश के जानकार हुआ करते थे इसलिए अनुवाद उनके लिए कभी अनिवार्य नहीं रहा। संस्कृत नाटकों में प्राकृत में बोले गए संवादों की संस्कृत छाया दिए जाने का चलन रहा है। यह 'छाया' अनुवाद है शाब्दिक अनुवाद को कभी महत्व नहीं मिला। इसके आधार पर अनुवाद सिद्धांत का विकास अपरिहार्य नहीं समझा गया होगा।

भारतीय साहित्य के निर्माण में अनुवाद की भूमिका समझने के लिए दो-तीन उदाहरणों का उल्लेख उपयोगी होगा। आठवीं शताब्दी के कवि गुणादय ने पश्चिमोत्तर भारत में बोली जाने वाली; लोकभाषा पैशाची में एक कथा-कृति 'बड्ढकहा' (वृहत्कथा) लिखी। कृति असाधारण महत्व की थी, लेकिन तत्कालीन विद्वानों ने इसे अपेक्षित सम्मान नहीं दिया। इससे कुण्ठित गुणादय ने अपनी रचना को जला डालने का निर्णय किया। माना जाता है कि सोमदेव नामक एक विद्वान ने सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को जलने से बचाना चाहा, परन्तु वे एक अंश को ही बचा पाए। बचे हुए हिस्से का उन्होंने संस्कृत में लगभग ढाई हजार श्लोकों में अनुवाद किया और इसे 'कथासरित्सागर' नाम दिया। क्षेमेन्द्र ने भी इस हिस्से का अपनी ओर से कालान्तर में संस्कृत अनुवाद किया और इसे 'वृहत्कथामंजरी' अभिधान मिला। यह संस्कृत में अनूदित प्राचीनतम रचना मानी जाती है।

मध्यकाल में कृष्णभक्त कवि नन्ददास ने श्रीमद्भागवत महापुराण का भाषानुवाद किया। संस्कृत कथावाचक पण्डितों को इससे खतरा महसूस हुआ। नन्ददास पर इतना दबाव डाला गया कि उन्होंने इसका एक छोटा-सा हिस्सा बचाकर सम्पूर्ण अनुवाद नदी में डाल दिया। तुलसी रामायण (रामचरितमानस) पर भी धर्माधिकारियों की कोपदृष्टि रही। जनश्रुति है कि अवधी में लिखी इस रचना को जब शिव की संस्तुति मिली तो उसकी रक्षा/प्रतिष्ठा हो पायी।

11.3 सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन और भारतीय साहित्य

प्रत्येक समाज की अपनी गतिकी होती है। समाज का गतिविज्ञान समझने के लिए उसकी आधारभूत संरचनाओं, मूल्यों, विश्वासों या समग्र जीवन-पद्धति का अध्ययन जरूरी होता है। सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन आधारभूत संरचनाओं की आपसी टकराहट के परिणाम होते हैं। समाज का प्रतिबिम्ब होने के नाते साहित्य इन टकराहटों का संचित कोष बनता है। भारतीय आंदोलन और भारतीय साहित्य इसी तर्क से परस्पर जुड़ते हैं और उनके इस जुड़ाव का असर अनुवाद-कार्य पर दिखायी देता है।

11.3.1 भारत के सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलनों का स्वरूप

किसी भी समाज में उठने वाले आंदोलन उस समाज की संकटापन्न स्थिति के सूचक होते हैं। सामान्य स्थितियों में किसी समाज के सदस्य आंदोलनों-मुख नहीं हुआ करते। लोग जब किसी बड़ी दिक्कत से रूबरू होते हैं तो उसके प्रतिकार हेतु संगठित एवं सक्रिय होते हैं। ऐसी प्रतिकारपूर्ण सक्रियता और संगठन आंदोलन कहा जाता है। संकट भीतरी होता है और बाहरी भी। कभी-कभी दोनों की मिली-जुली स्थिति भी दिखायी पड़ सकती है। भारत के आंदोलनों को ध्यान में रखकर कहें तो यहां प्रारंभ में आंतरिक संकटों के परिणामस्वरूप आंदोलनों का जन्म हुआ। ये आंतरिक संकट धर्म और सामाजिक पदानुक्रम से उपजे थे। बौद्ध मत तथा जैनधर्म पारम्परिक हिन्दू/ब्राह्मण धर्म में आई विकृतियों से जूझने के क्रम में पनपे। कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि का आयोजन तथा उसमें की जाने वाली हिंसा ने जिन लोगों के मन में वितृष्णा पैदा की, उन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्मों की शरण ली। ये नास्तिक मत कहे गए। बौद्धधर्म ने ब्राह्मण सर्वोच्चता का पुरजोर खण्डन किया, 'जनभाषा' पालि

में अपनी शिक्षाएं दीं और बौद्ध विहारों की व्यवस्था करके वैकल्पिक स्थान उपलब्ध करवाया। समाज के निम्न वर्गों का उसके प्रति रुझान होने की ये प्रमुख वजहें थीं। यह आंदोलन राज्याश्रय पाकर भारत की सीमा लांघकर वैश्विक भी हुआ। संस्कृति और सामाजिक संरचना पर बौद्ध आंदोलन का व्यापक और गहरा असर पड़ा। बौद्ध मत जिसे 'धम्म' कहा जाता है कालान्तर में दो टुकड़ों में बंटा हीनयान और महायान। महायान अपनी उदारवृत्ति के चलते अधिक लोकप्रिय रहा। विभिन्न कलाओं पर उसकी उल्लेखनीय छाप पड़ी। जैनधर्म अपनी साधनापरक कठिनता के चलते बौद्ध धर्म जितना फैल नहीं सका। मगर, उसकी धारा हमेशा बनी रही। उसमें बौद्ध धर्म की तरह विश्रुंखलता नहीं आयी। इसके बाद भक्ति आंदोलन ने अखिल भारतीय स्तर पर सक्रियता हासिल की। इस आंदोलन के जन्म के कारण में आंतरिक कारणों के साथ बाह्य कारणों का भी योग रहा है। विद्वानों ने इस्लाम धर्मानुयायी आक्रमणकारियों को भक्ति आंदोलन के उदय में महत्वपूर्ण कारक के रूप में देखा है साथ ही तथाकथित निम्न जातियों-शिल्पकारों, दस्तकारों की परिस्थितिगत बदलाव के चलते मुखर होती आत्माभिव्यक्ति, धर्म के मुहावरे में समाजिक बराबरी की मांग को भी उत्तदायी माना है। भक्ति आंदोलन के बाद अगला आंदोलन राष्ट्रीय मुक्ति का स्वतंत्रता आंदोलन है। इस आंदोलन का परिप्रेक्ष्य राजनीतिक है। औपनिवेशिक सत्ता से संघर्ष करते हुए स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने आंतरिक प्रश्नों पर भी ध्यान दिया और सामाजिक सुधार तथा सांस्कृतिक परिवर्तन के आंदोलन भी चलाए। स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) से एक दशक पहले ही प्रगतिवादी आंदोलन की शुरुआत हो गयी थी जो स्वतंत्र भारत के आरंभिक वर्षों में पूरी ऊर्जा के साथ दिखा। साहित्य और कला रूपों पर इसका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। राजनीति के मुहावरे को इस आंदोलन ने बहुत भीतर तक परिवर्तित किया।

11.3.2 सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन और साहित्य

भारत की सांस्कृतिक एकता का निर्माण और प्रस्फुटन आंदोलनों के दौरान होता रहा है। इस एकता की अभिव्यक्ति सबसे ज्यादा साहित्य में हुई है। साहित्य की भूमिका का आंदोलनों के संदर्भ में विवेचन करें तो पाएंगे कि एक ओर वह आंदोलन की मानसिकता के निर्माण में सहायक बनता है तो दूसरी ओर आंदोलन की प्रक्रिया तथा परिणति का दस्तावेज भी होता है। आंदोलन में सक्रिय विभिन्न शक्तियों के संघात-प्रतिघात की बारीकियों को जानने का विश्वनीय माध्यम साहित्य ही होता है। बौद्धधर्म के आंदोलन ने पालि में प्रभूत साहित्य का सृजन किया। पालि (गाँव की बोली) इसकी वजह से समादृत भाषा बन गयी। आज भी जीवित भाषा के रूप में समाप्त होकर पालि अगर अध्ययन का विषय बनी हुई है तो बहुत कुछ बौद्धधर्म की बदौलत ही। पालि में संग्रहित वचनों का संस्कृत में अनुवाद करने से स्वयं गौतमबुद्ध ने निषेध किया था, लेकिन कालान्तर में बौद्ध साहित्य और दर्शन ग्रंथों की रचना पालि में हुई। 'बुद्धचरित' जैसा विश्व प्रसिद्ध महाकाव्य तथा वज्रसूची जैसे तीक्ष्ण विवेचन वाला ग्रंथ संस्कृत में ही रचा गया। बौद्ध आंदोलन ने भारतीय साहित्य के निर्माण में महती भूमिका निभायी है। जैन कवियों ने भी उपदेशपरक काव्य के अतिरिक्त प्रबंधात्मक रचनाओं से साहित्य का भंडागार समृद्ध किया है।

भारतीय साहित्य का निर्माण अगर किसी आंदोलन ने किया है, तो वह निस्संदेह भक्ति आंदोलन है। अलग-अलग भाषाओं में मध्ययुगीन संत कवियों ने एक ही चेतना को शब्द दिए। यह चेतना अपनी बनावट और स्वभाव में अखिल भारतीय थी। नामदेव ने मराठी भाषी होकर हिंदी में भी रचनाएं कीं और कबीर तमाम प्रांतों में वहाँ के रंगों में ढाल दिए गए और उनकी रचनाएं उन प्रांतीय भाषाओं में गायी गयीं। रचना और रचनाकार से ऐसी छूट पहले या बाद में कभी नहीं ली गई थी। कबीर ने पोथी के प्रभुत्व को ललकारते हुए कहा था कि मैं 'आँखिन देखी' कहता हूँ। 'कागद लेखी' (शास्त्रों की पोथियाँ) उलझाने वाली होती हैं। यह बल कबीर ने तत्कालीन जन-मानस की बदली प्रवृत्ति से भी ग्रहण किया होगा। उनका अपना साहस तो था ही। तुलसीदास ने साहित्य की आंदोलनधर्मी परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा कि वही साहित्य कीर्तिवान होता है जो गंगा की तरह सबका भला करे -

'कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।।'

हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य तथा सौमनस्य पैदा करने के लिए सूफी कवियों की एक शृंखला ही बन गयी। हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम कथाओं को इन सूफियों ने अपने प्रेमाख्यानकों का आधार बनाया और प्रेम की धारा प्रवाहित की।

स्वतंत्रता आंदोलन ने साहित्य की भंगिमा ही बदल दी। भक्ति आंदोलन ने जिस भारतीय साहित्य का स्वरूप निर्मित किया था स्वतंत्रता आंदोलन ने उसे विशिष्ट तेवर प्रदान किया। आंतरिक और वाह्य औपनिवेशिक दबाव से जूझने के क्रम में राष्ट्रीय भावना का जन्म हुआ जिसने सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को एक व्यक्तित्व देकर सांस्कृतिक पुनरोदय-नवजागरण की चेतना से सम्पृक्त किया। प्रगतिवादी आंदोलन ने इस चेतना का विस्तार करते हुए भारतीय साहित्य को वैश्विक संदर्भों से जोड़ा और किसान-मजदूर की चिंता को प्राथमिक बनाकर आंदोलनधर्मी साहित्य का नया दौर प्रारंभ किया। परवर्ती आंदोलन इसी के प्रभाव को अपनाते हुए अलग-अलग दिशाओं में आगे बढ़े।

11.3.3 आंदोलन, साहित्य और अनुवाद का भारतीय संदर्भ : अंतःसंबंध की पड़ताल

भारतीय साहित्य का निर्माण यहाँ के आंदोलनों से जुड़कर हुआ है। वास्तव में आंदोलन किसी भी समाज में शक्ति संबंधों में परिवर्तन के इरादे से प्रेरित हुआ करते हैं। शक्ति संबंधों में परिवर्तन के लिए जरूरी होता है कि उस समाज की बुनियादी आर्थिक और सांस्कृतिक संरचनाओं को समझा जाए तथा उसे बदला जाए। जब बौद्धधर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों को पालि से संस्कृत में अनुवाद करने से मना किया था तो उसके मूल में शक्ति-संबंधों में बदलाव की इच्छा ही काम कर रही थी। भक्ति आंदोलन के दौर में लोक बोलियों को अनुवाद के जरिए ही प्रतिष्ठित किया गया और इस तरह उन बोलियों को बरतने वालों को शक्ति संपन्न बनाने की दिशा में काम किया गया। इस आंदोलन का परिणाम यह निकला कि लोक बोलियों में उन पूज्य ग्रंथों का अनुवाद हो गया जो अब तक विशेषाधिकार प्राप्त समुदाय की भाषा संस्कृत में ही उपलब्ध थे। रामायण, महाभारत तथा भागवत महापुराण का अनुवाद प्रायः सभी महत्वपूर्ण बोलियों में हुआ। जिस जनता के हृदय में इन ग्रंथों की कथाएं प्रतिष्ठित थीं। उनकी सीधी पहुंच संस्कृत तक नहीं थी। मध्यस्थों के जरिए ही वे इन कथाओं का रसास्वादन कर पाते थे। इनके अनुवाद ने सीधी पहुंच संभव की और बोलियां भी पदोन्नत होकर भाषा बनने लगीं लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि धर्म का लोकतंत्रीकरण हुआ। इससे समाज का सत्ता-समीकरण प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। धर्म के स्वरूप में इस परिवर्तन ने कुछ अन्य परिणामों को भी जन्म दिया। अखिल भारतीय स्तर पर नये लेखक, कृतियां और धर्माधारित वैदुष्य के नये केन्द्र प्रतिष्ठित हुए। आपसी संवाद सघन हुआ। पारस्परिक मेलजोल के बढ़ते अवसरों ने नयी सम्पर्क भाषा की आवश्यकता का अनुभव कराया। अब तक संस्कृत ही सम्पर्क का साधन थी। अब हिंदी को भी सम्पर्क का माध्यम बनाया जाने लगा। संस्कृत सत्ताधारियों और विद्वानों के सम्पर्क का साधन थी लेकिन नयी सम्पर्क भाषा जन सामान्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली बनी। संस्कृत से इतर पालि का प्रयोग मध्यकाल तक आते-आते बंद हो चुका था। प्राकृतों के तमाम भेद थे और वह नयी पीढ़ी के लिए सहज नहीं रह गयी थी। अपभ्रंश शृंगारपरक साहित्य के लिए रूढ़ हो चुकी थी। धर्म के लोकतंत्रीकरण में इसे प्रयुक्त किया जाना स्वाभाविक नहीं रह गया था। भारतीय जनमानस के नये नायकों में राम अवध क्षेत्र के थे और कृष्ण ब्रज के। विष्णु के तमाम अवतारों में से इन्हीं दो अवतारों की भक्ति का प्रस्ताव दक्षिण के तत्कालीन आचार्य मध्व ने किया था। मध्वाचार्य द्वैत सम्प्रदाय के संस्थापक थे। आज का कर्नाटक उनकी कर्मभूमि थी। उनका यह प्रस्ताव भारत की धर्मप्राण जनता को स्वीकार हुआ। कवियों ने इन दोनों नायकों और उनसे जुड़ी भाषा को असीमित आदर दिया। आंध्र प्रदेश मूल के आचार्य वल्लभ ने अपने (पुष्टि) सम्प्रदाय का प्रचार ब्रजभाषा में किया। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु की भक्ति भावना भी ब्रज में ही प्रवाहित हुई। ब्रजभाषा जब बांग्ला के सम्पर्क में आयी तो एक नये भाषा रूप ब्रजबुलि का निर्माण हुआ। असम के शंकरदेव और माधव देव की उत्तर भारत की यात्रा ने असमिया में ब्रजभाषा के शब्दों की जगह बनायी। निम्बार्काचार्य ने दक्षिण भारत में कृष्णभक्ति का प्रचार करके उस भाषा को भी वहां पहुंचाया। उड़ीसा का पुरुषोत्तम क्षेत्र पुरी इस समय कृष्ण भक्तों और आचार्यों का उपकेन्द्र था। ब्रज की सरिता यहां भी प्रवाहित हो रही थी। गुजरात में वल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार हुआ। गुजरात जनता ने कृष्णभक्ति को मुक्त हृदय से अपनाया। तमाम गुजराती भाषी कवि ब्रजभाषा के भी हुए। उधर अवधी का

समादर तुलसीदास की रचना रामचरितमानस के कारण भी बढ़ा। सूफी कवियों ने अपने प्रबंधों को फारसी लिपि और अवधी भाषा में लिखकर एक नये युग की आधारशिला रख ही दी थी। संतों की वाणियां पूरे देश में सुनायी पड़ीं। ये संत निर्गुण ब्रह्म में विश्वास रखते थे। इनकी भाषा को उस समय की बोलचाल की भाषा के रूप में देखा जाता है। पंजाब के नानकदेव संत परम्परा में ही गिने जाते हैं। नानक और उनके बाद चली गुरु परम्परा ने पंजाबी भाषा का स्वरूप बनाने में केन्द्रीय भूमिका निभायी। कबीर, दादू आदि तमाम संतों को सिक्खों के धर्मग्रंथ गुरुग्रंथ साहब में जो स्थान मिला उससे भाषा और साहित्य के एक साझे रूप के विकास का पथ प्रशस्त हुआ। उत्तर मध्य काल में रियासतें बनीं। केन्द्रीय सत्ता की अधीनता स्वीकार कर इन रियासतों ने अपने ढंग से क्षेत्रीय भाषा और साहित्य को प्रोत्साहन दिया। लोक भाषाओं के कवियों को राज दरबारों में जगह मिलने लगी। भक्ति आंदोलन का यह भी एक परिणाम था। भारतीय साहित्य इन सब कारकों और परिघटनाओं से सृजित हुआ है।

11.4 साहित्य, इतिहास और अनुवाद

भारतीय साहित्य का निर्माण एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान हुआ है। भारतीय साहित्य अपने वैविध्य के लिए जितना ख्यात है उतना ही अपनी चेतनागत ऐक्य के लिए पहचाना जाता है। तमाम स्वर, तमाम सांस्कृतिक उपसमुदायों की पहचानें इसमें इस तरह से घुल मिल गयी हैं कि उन्हें आज अलग कर देखना दुष्कर लगता है। शास्त्र और लोक, तर्क और विश्वास, आस्तिकता और नास्तिकता, युद्ध और शांति, सुलह और विग्रह जैसी परस्पर विरोधी स्थितियां और विचार इस निर्मिति में ऐसे गुंथे हुए हैं कि उन्हें विपरीत ध्रुवों की तरह देखना अनुपयुक्त प्रतीत होता है। संश्लिष्टता कदाचित् भारतीय साहित्य की प्रकृति और पहचान है। 'विरुद्धों के सामंजस्य' पर आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने टिप्पणी करते हुए इसे भारतीय मानस की विशिष्टता के रूप में रेखांकित किया है। रामायण में राज्य का भार लेने से उत्तराधिकारी आनाकानी करते हैं जबकि महाभारत में राजगद्दी के लिए उत्तराधिकारी आपस में खूनी संघर्ष करते हैं। ये दोनों महाकाव्य भारतीय मानस का निर्माण करते हैं। दोनों ही कथाएं एक ही सहजता के साथ साधारण जनों द्वारा अंगीकृत की गयी हैं। यह भी ध्यातव्य है कि मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के दौरान जब लोक बोलियों में इन कथाओं का अनुवाद (जिसके लिए पुनर्कथन शब्द ज्यादा संगत लग रहा है) किया गया तो रचनाकारों ने कथाकथन में पूरी छूट ली। कथा का मूल तो बरकरार रखा लेकिन अपनी बोली और प्रांतीय अपेक्षाओं के मद्देनजर नए प्रसंगों की रचना की। पुराने प्रसंगों में यथावसर परिवर्तन किए। गीता के प्रारंभ में जो प्रसंग रचा है वह इस युग चेतना को सार्थक ढंग से व्यक्त कर देता है। कृष्ण के संस्कृत में दिए जा रहे उपदेशों को श्रद्धास्पद स्वीकारते हुए भी अर्जुन मराठी में उपदेश देने का अनुरोध करते हैं जिससे कि वे इनका अर्थ समझ सकें। कृष्ण को उनका अनुरोध मानना पड़ता है। ज्ञानेश्वरी इस तरह अपना औचित्य अर्जित करती है, अपनी वैधता की पीठिका तैयार करती है।

लंबे समय तक औपनिवेशिक मानस लिखित शब्दों को ही प्रामाणिक मानने का आग्रही रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि मौखिक साहित्य का संज्ञान ही नहीं लिया गया। वास्तविकता जब कि यह है कि लिखित साहित्य मौखिक साहित्य का बहुत ही छोटा हिस्सा है। 'भारतीय आत्मा' इसी साहित्य से निर्मित हुई है, इसी साहित्य में निवास करती है। भारत में ग्राम गीतों के आरंभिक संग्राहक रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है: 'प्राचीन भारतवर्ष क्या था और उसके निवासियों का सच्चा स्वरूप क्या है? यह अगर जानना और समझना हो तो हमें ग्राम साहित्य का अच्छा अध्ययन करना चाहिए।' (ग्राम-साहित्य, पहला भाग, जनवरी 1951, पृ. 37) गाँव और गाँव के साहित्य के प्रति दृष्टिकोण में जो बदलाव आया है, रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार, "उसका एक कारण "यह है कि हम उन्हें यूरोप की आँखों से देखते हैं।" (वही, पृ. 39) अपरिचय के कारण ही "हम अपने देश में रहते हुए भी विदेशी जैसे हैं।" (वही, पृ. 1) भारत के वाचिक साहित्य के जितने अध्ययन हुए हैं, उन सब अध्येताओं ने एक बात विशेष रूप से लक्षित की है कि विभिन्न बोलियों में रचे इस साहित्य की अन्तर्वस्तु में अद्भुत एकता है। बांग्ला की सुप्रसिद्ध लेखिका नवनीता देवसेन तेलुगु लोकगीतों में रामकथा पर अपने अध्ययन में इस निष्कर्ष पर पहुंची, "इतने सालों से मैं रामायण के सिर्फ धड़ को ही उलट-पलट रही थी। इतने दिनों बाद उसके प्राण का सुराग मिला।"

(वामाबोधिनी, देवसेन, पृ. 46) और प्राण का यह सुराग “तेलुगु औरतों के इस महा-अनमोल रामायणी गीतों के भंडार का सुराग” है। (वही, पृ. 47) रामकथा और उसके साथ असंख्य कथाओं का लोकानुवाद अनुवाद के किसी आधिकारिक इतिहास में नहीं मिलेगा। इसे समझने के लिए इतिहास, साहित्य और अनुवाद की अपनी जड़ी भूत धारणा को उदार बनाना होगा।

11.5 स्वतंत्रता आंदोलन, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण और अनुवाद

राष्ट्र के रूप में भारत की परिकल्पना औपनिवेशिक काल में स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान की गयी। यूरोप को मॉडल के रूप में देखा गया। एकल संस्कृति वाले यूरोप के राष्ट्र-राज्य (नेशन-स्टेट) और बहुभाषिक, बहुसांस्कृतिक के बीच का बुनियादी फर्क कई बार नजर अंदाज भी किया गया। एक राष्ट्र के रूप में भारत की जो अस्मिता बन रही थी उसमें औपनिवेशिक दृष्टि की निर्णायक भूमिका थी। भारत जो वास्तव में था वह एक तरफ और जिस भारत को औपनिवेशिक शक्ति के प्रतिनिधि गढ़ रहे थे वह दूसरी तरफ। यह औपनिवेशिक गढ़ंत ज्यादा प्रभावशाली रही। राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में शामिल भारतीयों ने प्रदत्त चश्में से खुद को, अपनी परम्परा को, अपनी सभ्यता-संस्कृति को देखा। इसके मिश्रित परिणाम निकले। यूरोपीय पुनर्जागरण की रोशनी में, प्रबोधन कालीन ज्ञान की यत्किंचित प्रेरणाओं से इस निर्माणाधीन राष्ट्र में समाज सुधार के आंदोलन चले। ‘समाजों’ (ब्रह्म समाज, थियोसॉफिकल सोसायटी, प्रार्थना समाज आदि) का निर्माण हुआ। इन्हीं हलचलों के बीच नयी भारतीयता बनी। नया साहित्य रचा गया। जिसे हम आज ‘भारतीय साहित्य’ कहते हैं वह औपनिवेशिक काल की ही उपज है। अंग्रेजों, पुर्तगालियों, डचों और फ्रांसीसियों (जिनके उपनिवेश इस देश में स्थापित थे) के लिए भारत एक ‘वास्तविक’ स्थिति थी। भारतीय इतिहास, भारतीय जन, भारतीय संस्कृति जैसे पदबंध तभी चलन में आए। ‘भारतीय साहित्य’ पदबंध और अवधारणा भी तभी निर्मित हुई। इस निर्मित में अनुवादों की निर्णायक भूमिका है। भारतीय ग्रंथों का यूरोपीय भाषाओं में बड़े पैमाने पर अनुवाद हुआ। इससे भारत की एक छवि अस्तित्व में आयी। अनुवादकों के पूर्वग्रह और निहित-प्रकट स्वार्थ भी इस समूची प्रक्रिया में सक्रिय रहे। ईसाई मिशनरियों द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं में किए जाने वाले अनुवादों, खासकर बाइबिल के अनुवाद ने इन भाषाओं में अभिनव गद्य का निर्माण किया। प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना से बड़े पैमाने पर प्रकाशन संभव हुआ और गद्य लेखन की धारा जोर-शोर से चल निकली। गद्य के विकास और अनुवादों की बढ़ोतरी में गहरा संबंध है।

भारतीय विद्वानों और साहित्यकारों ने नवोदित राष्ट्र की आकांक्षाओं के अनुरूप नए साहित्य के सृजन पर बल दिया और अनुवादों की जरूरत रेखांकित की। ये अनुवाद यूरोपीय भाषाओं विशेषकर अंग्रेजी से अभीप्सित थे। इसके साथ भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवादों पर खासकर जोर दिया जा रहा था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1850-1885) रवीन्द्रनाथ टैगोर (1867-1941) और सुब्रह्मण्य भारती (1882-1921) की अनुवाद की आवश्यकता से जुड़ी चिंताएं इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 1877 में लिखा, “पै सब विद्या की कहुँ होई जु पै अनुवाद। निज भाषा मँह तो सबै याको लहै सवाद।। अंगरेजी अरु फारसी अरबी संस्कृत ढेर। खुले खजाने तिनहिं क्यों लूटत लावहु ढेर।। (भारतेन्दु ग्रंथावली II पृ. 736) टैगोर ने बांग्ला और भारती ने तमिल भाषा में अनुवाद की गति-प्रगति पर बल दिया। इनके सरोकारों के केन्द्र में अपनी-अपनी भाषाओं की उन्नति के साथ भारतीय साहित्य और अंततः भारत के स्वत्व की प्रतिष्ठा का लक्ष्य था।

11.6 स्वतंत्र भारत के साहित्यिक आंदोलन और अनुवाद

भारत को राजनीतिक स्वाधीनता मिलने के बाद यहाँ के बौद्धिक और साहित्यिक परिदृश्य में निर्णायक परिवर्तन की जमीन तैयार हुई। लेखकों और विद्वानों ने औपनिवेशिक निर्मितियों के दुष्प्रभावों को पहचानने और उनसे मुक्त होने की क्रमिक और सजग कोशिश की। प्रगतिवादी आंदोलन की शुरुआत आजादी प्राप्ति से पहले हो चुकी थी। वह स्वाधीन भारत का पहला बड़ा आंदोलन भी बना। इस आंदोलन का स्वरूप अखिल भारतीय होने के साथ सच्चे अर्थों में अन्तरराष्ट्रीय था। आंदोलन से जुड़े लेखकों ने साम्राज्यवादी-सामंतवादी शक्तियों के विरुद्ध कलम चलायी और इस विरोध को ऊर्जा देने वाले साहित्य का अनुवाद बड़े पैमाने पर किया। इस दौर में भारतीय साहित्य का

विश्व साहित्य से सम्पर्क गहरा हुआ। तालस्ताय, दोस्तोव्स्की, गोर्की की रचनाएं सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनूदित हुईं। गोर्की का उपन्यास 'माँ' पढ़कर क्रांतिदर्शी भारतीयों की एक समूची पीढ़ी ही बड़ी हुई है। इधर भारतीय रचनाकारों जैसे प्रेमचंद का विश्व की तमाम भाषाओं में अनुवाद हुआ। अध्यात्म की छवि से मुक्त भारत की नयी छवि का निर्माण इसी दौर में हुआ।

अस्सी के दशक में उभरे नारीवादी लेखन और आंदोलन ने अनुवाद की गति को आगे बढ़ाया और भारतीय साहित्य में जेण्डर के प्रश्न को प्राथमिक प्रश्न बना दिया। इसी के साथ दलित आंदोलन भी उभरा और साहित्यिक सक्रियता तथा वैचारिक क्रियाशीलता की नयी ऊँचाई दिखायी पड़ी। मराठी-हिंदी दलित साहित्य के मशहूर अनुवादक डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ने अनुवाद के समाजशास्त्र पर विचार करते हुए लिखा है जब-जब वर्ण व्यवस्था के विरोध में आंदोलन होने लगते हैं समता का जब-जब आग्रह होने लगता है, विषमतावादी समाज व्यवस्था के विरोध में जब विद्रोह की मशाल जलाई जाती है तब यहाँ के सृजन में मौलिकता आने लगती है। अन्य भाषाओं में स्थित उत्कृष्टकृतियों के अनुवाद का प्रयत्न शुरू हो जाता है। (अनुवाद का समाजशास्त्र, पृ. 20) विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में भारतीय दलित साहित्य का जब से समावेश किया जाना आरंभ हुआ है तब से दलित साहित्य की कृतियों का अनुवाद अधिकाधिक गतिमय हुआ है। आज आदिवासी साहित्य और प्रवासी साहित्य के सृजन-परिदृश्य में आ जाने से अनुवाद के क्षेत्र में संभावनाओं के नए क्षितिज दिखायी पड़ रहे हैं। भारतीय साहित्य की पहचान का यही समकालीन परिप्रेक्ष्य है।

11.7 सारांश

हमने इस इकाई में भारतीय साहित्य की अवधारणा का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया। भारतीय साहित्य के आधारभूत तत्व, भारतीय साहित्य की निर्मिति का इतिहास इस इकाई का केन्द्रीय हिस्सा बना। राष्ट्र निर्माण से पहले भारत की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक संरचना में मौजूद थी। एक ही सामाजिक मर्यादाएं, लगभग समान जीवन मूल्य और जीवनादर्श इस भू खण्ड के लोगों को एकता के सूत्र में बाँधते थे। साहित्य इस एकता के प्रतिबिंबन का प्रमुख आधार रहा है। आंदोलनों की एक परम्परा भारत की धरती पर चली। इन आंदोलनों ने सांस्कृतिक एकता के ताने-बाने को पुनर्निर्मित, पुनर्परिभाषित किया और साहित्य तथा अनुवाद पर उल्लेखनीय असर डाला। विभिन्न भाषा भाषियों के बीच आवाजाही बनने और बढ़ने से एक तरफ सम्पर्क भाषा का निर्माण हुआ तो दूसरी तरफ अनुवादों की माँग बढ़ी। बौद्ध-जैन आंदोलन, भक्ति आंदोलन ने धर्म के लोकतंत्रीकरण पर बल देकर पारम्परिक वर्चस्व को सफल चुनौती दी। स्वाधीनता आंदोलन से साहित्य में राजनीति का प्रवेश हुआ जिसने भारतीयों की आत्मछवि में बदलाव किया ही, भारतीय साहित्य की प्राथमिकताएँ भी बदल दीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों ने उक्त आत्म छवि में परिष्कार संभव किया और परिवर्तित वैश्विक पटल में सार्थक हस्तक्षेप भी किया। इस हस्तक्षेप में अनुवादों का उल्लेखनीय योगदान रहा।

11.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 1) भारतीय साहित्य का आशय स्पष्ट करते हुए उसके निर्माण में अनुवाद की भूमिका का रेखांकन कीजिए।
- 2) भारतीय साहित्य की अवधारणा के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का विवेचन कीजिए।
- 3) भारतीय साहित्य और अनुवाद के अंतरसंबंध का विवेचन कीजिए।
- 4) सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलनों का भारतीय साहित्य पर क्या असर पड़ा? सोदाहरण समझाइए।
- 5) आंदोलन और अनुवाद में क्या रिश्ता होता है? भारतीय साहित्य के संदर्भ में इसकी व्याख्या कीजिए।
- 6) राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण में अनुवाद की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
- 7) स्वतंत्रता आंदोलन ने भारतीय साहित्य को किस तरह प्रभावित किया, समझाइए।
- 8) स्वतंत्र भारत के साहित्यिक आंदोलन और अनुवाद के आपसी संबंधों का खुलासा कीजिए।

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- रणसुभ, सूर्यनारायणे, 2009, *अनुवाद का समाजशास्त्र*, गाजियाबाद, अमित प्रकाशन।
- गोस्वामी, कृष्ण कुमार, 2008, *अनुवाद विज्ञान की भूमिका*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- देवसेन, नवनीता, 2004, *वर्मा बोधिनी*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

